स्याद्वाद साहित्य का विकास

आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आनन्द ऋषिजी महाराज

अहिंसा और अनेकान्त ये जैनधर्म के दो मूल सिद्धान्त हैं। भगवान् महावीर ने इन्हीं दो मूल सिद्धान्तों पर अधिक बल दिया है। महावीर परम अहिंसक थे। वे शारीरिक अहिंसा के समान ही मानसिक अहिंसा-पालन पर भी जोर देते थे। उनका निश्चित मत था कि उपशम वृत्ति से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है और यही वृत्ति मोक्ष का साधन है। मानसिक, वाचिक और कायिक इस त्रिविध अहिंसा की परि-पूर्ण साधना और स्थायी प्रतिष्ठा वस्तु-स्वरूप के यथार्थ दर्शन के बिना होना अशक्य है। हम भले ही शरीर से दूसरे की हिंसा न करें किन्तु वचन, व्यवहार और चित्तगत विचार यदि विषम और विसंवादी हैं तो कायिक अहिंसा का पालन कठिन है। इसीलिए उनका उपदेश था कि प्रत्येक पुरुष भिन्न-भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव कें अनुसार ही सत्य की प्राप्ति करता है। जिससे प्रत्येक दर्शन के सिद्धान्त किसी अपेक्षा से सत्य हैं। जब तक इन मतों का वस्तुस्थिति के आधार पर यथार्थ दर्शनपूर्वक समन्वय न होगा, तब तक हिंसा और संघर्ष की जड़ नहीं कट सकती है। हमारा कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि हम व्यर्थ के वाद-विवादों में न पड़कर अहिंसा और शान्तिमय जीवनयापन करें। हम प्रत्येक वस्तु को प्रतिक्षण उत्पन्न होती हुई और नष्ट होती हुई देखते हैं। साथ ही उस वस्तु के नित्यत्व को भी अनुभव करते हैं। अतएव प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षा से नित्य और सत् तथा किसी अपेक्षा से अनित्य और असत् आदि अनेक धर्मों से युक्त है।

अनेकान्तवाद सम्बन्धी इस प्रकार के विचार प्रायः प्राचीन आगम ग्रन्थों में यत्र-तत्र देखने में आते हैं। गौतम गणधर भगवान् महावीर से पूछते हैं--आत्मा ज्ञान स्वरूप है, अथवा अज्ञान स्वरूप ? भगवान् उत्तर देते हैं—आत्मा नियम से ज्ञान स्वरूप है क्योंकि ज्ञान के बिना आत्मा की वृत्ति नहीं देखी जाती है। परन्तु आत्मा ज्ञान रूप भी है और अज्ञान रूप भी—"आया पुण सिय णाणे सिय अन्नाणे"। इसी तरह ज्ञातृधर्मकथा और भगवतीसूत्र में भी वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा एक, ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से अनेक, किसी अपेक्षा से अस्ति, किसी से नास्ति और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य कहा गया है।

इस प्रकार प्राचीन आगमों में स्याद्वाद के सूचक त्रिपदी (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) सिय अत्थि, सिय नत्थि, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय आदि शब्दों का अनेक स्थानों पर उल्लेख पाया जाता है। किन्तु स्याद्वाद के सात भंगों का उल्लेख नहीं मिलता। इसके बाद हम आगम ग्रन्थों पर लिखित निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य रूप जैन वाङ्मय की ओर आते हैं। आगम ग्रन्थों पर ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में भद्रबाहु की दस निर्युक्तियों में भी आगमों के विचारों को विशेष रूप से प्रस्फुटित किया गया है।

जैन दर्शन में स्याद्वाद साहित्य का विकास

जैन वाङ्मय को सर्वप्रथम संस्कृत भाषा का रूप देने वाले दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों द्वारा मान्य आचार्य उमास्वाति हुए हैं। इनका समय ई० सन् प्रथम शताब्दी माना जाता है। भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद से लेकर इनके पूर्व तक जैन साहित्य की भाषा प्रायः प्राकृत रही। इस दीर्घकाल के अधिकांश राजाओं के लेखों में भी इसी प्राकृत भाषा का प्रयोग मिलता है किन्तु धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। संस्कृत भाषा का एक नया रूप विकसित हुआ। जिसे राजसभाओं, कवियों और पंडितों की गोष्ठियों में स्थान मिला और उच्च वर्ग की प्रतिष्ठित भाषा का स्तर प्राप्त हुआ। बौद्ध और जैन विद्वानों ने भी इस साहित्यिक संस्कृत को अपनाकर अपने विशाल धार्मिक साहित्य से उसे समृद्ध बनाया। इस भव्य परम्परा का प्रारम्भ जैन संघ में आचार्य उमास्वाति से हुआ। आपने लगभग ३५७ सूत्रों के तत्त्वार्थ सूत्र नामक अपने छोटे से ग्रन्थ में विशाल आगम साहित्य का सार बड़ी कुशलता से ग्रथित किया है जिसमें अनेकान्तवाद और विशेषकर नयवाद की चर्चा विस्तृत रूप में पायी जाती है। यहां अर्पित, अनर्पित[1] प्रमाणनयों के भेद और उपभेदों[2] का वर्णन विस्तार से किया गया है। परन्तु यहां भी स्याद्-वाद के स्यादस्ति आदि सात भंगों के नामों का उल्लेख नहीं मिलता।

१. 'अर्पितानर्पित सिद्धेः।', तत्त्वार्थसूत्र, ५।३१.
२. 'प्रमाणनयैरधिगमः।', तत्त्वार्थसूत्र, १।६ व इसका भाष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन साहित्य में स्यादस्ति आदि स्याद्वाद के सूचक सप्तभंगों के नाम सर्वप्रथम हमें आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में देखने को मिलते हैं। परन्तु यहां भी स्याद्वाद के विषय में विशेष चर्चा नहीं है। यही कारण है कि उक्त ग्रन्थों में सप्तभंगों के नाममात्र गिनाए गये हैं।

दक्षिण भारत के जैन संघ में असाधारण रूप से सम्मानित आचार्य कुन्दकुन्द का मूल नाम पद्मनन्दि था। कोण्डकुन्द यह उनके मूल स्थान का नाम था जो दक्षिण की परम्परा के अनुसार उनके नाम के रूप में प्रचलित हुआ तथा संस्कृत में यही नाम कुन्दकुन्द के रूप में प्रसिद्ध हुआ। यह कोण्डकुन्द अब कोनकोण्डल कहलाता है तथा आन्ध्रप्रदेश के अनन्तपुर जिले में स्थित है। यहां कई जैन शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इनके उपलब्ध ग्रन्थों में दशभक्ति, अष्टप्राभृत, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार और समयसार के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी सभी रचनाएं शौरसेनी प्राकृत में हैं। दशभक्ति और अष्टप्राभृत ये प्रारम्भिक रचनाएं प्रतीत होती हैं। नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से साधु जीवन के विविध अंगों का वर्णन किया गया है। पंचास्तिकाय में १७३ गाथाएं हैं। जिनमें छह द्रव्यों और नौ पदार्थों का विवरण मिलता है। प्रवचनसार में ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीन अधिकारों (प्रकरणों) में २७५ गाथायें हैं। सर्वज्ञ के दिव्य ज्ञान और उनके द्वारा उपदिष्ट द्रव्य स्वरूप का प्रभावी समर्थन इसमें प्राप्त होता है। समयसार में ४३७ गाथायें हैं। जिनमें निश्चयनय और व्यवहारनय की विभिन्न दृष्टियों से आत्म-तत्त्व का विशद वर्णन किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा किये गये स्याद्वाद सूचक सप्तभंगों के उल्लेख से यह जान पड़ता है कि इस समय जैन आचार्य अपने सिद्धान्तों पर होने वाले प्रतिपक्षियों के कर्कश तर्क-प्रहारों से सतर्क हो गये थे और यहीं से स्याद्वाद का सप्तभंगमय विकास प्रारम्भ होता है। इस विकास का श्रेय आचार्य सिद्धसेन दिवाकर तथा स्वामी समन्तभद्र को है। इन दोनों आचार्यों से पूर्व जैनदर्शन में तर्कशास्त्र विषयक किसी स्वतंत्र सिद्धान्त की स्थापना नहीं हुई थी। इन विद्वानों के पूर्व का युग विशेषतः आगमप्रधान ही था, लेकिन गौतम के "न्यायसूत्र" की रचना के पश्चात् जैसे-जैसे तर्क का प्रचार बढ़ने लगा वैसे-वैसे जैन तथा बौद्ध विद्वानों ने अपने-अपने दर्शनों में तर्क-पद्धति को स्थान देना प्रारम्भ किया। फलतः बौद्ध और जैन श्रमणों ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपक्षियों के तर्क प्रहारों से सुरक्षित रखने के लिए क्रमशः शून्यवाद और स्याद्वाद को एक सुनिश्चित तथा सुव्यवस्थित स्थान दिया।

वाचक उमास्वाति आदि अन्य आचार्यों के द्वारा जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा का प्रवेश होने के कई शताब्दी पूर्व ही यह भाषा बौद्ध साहित्य में अपना उच्च स्थान बना चुकी थी। जब बौद्ध दर्शन में नागार्जुन, वसुबंधु, असंग तथा बौद्ध न्याय के पिता दिङ्नाग का युग आया तब दर्शनशास्त्रियों में इन बौद्ध दार्शनिकों के प्रबल तर्क प्रहारों से बेचैनी उत्पन्न हो रही थी। दर्शनशास्त्र के तार्किक अंश और परपक्षखंडन का युग प्रारम्भ हो चुका था। इस युग में जो धर्म संस्था प्रतिवादियों के आक्षेपों का निराकरण करके स्वदर्शन की प्रभावना नहीं कर सकती थी उसका अस्तित्व ही खतरे में था। अतः पर चक्र से रक्षा करने के लिए अपना दुर्ग स्वतः सुरक्षित बनाने का महत्वपूर्ण कार्य स्वामी समंतभद्र और सिद्धसेन दिवाकर इन दो महान् आचार्यों ने किया।

स्वामी समंतभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे। इन्होंने दर्शन, सिद्धान्त एवं न्याय सम्बन्धी मान्यताओं को स्तुति काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

समंतभद्र की रचनाएं निम्नलिखित मानी जाती हैं—

(१) बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, (२) स्तुतिविद्या अथवा जिनशतक, (३) देवागमस्तोत्र या आप्तमीमांसा, (४) युक्त्युनुशासन या वीर-स्तुति, (५) रत्नकरण्डश्रावकाचार, (६) जीवसिद्धि, (७) तत्त्वानुशासन, (८) प्राकृत व्याकरण, (९) प्रमाणपदार्थ, (१०) कर्मप्राभृत-टीका, (११) गन्धहस्तिमहाभाष्य।

इनमें से कई रचनाएं अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थों को देखने से प्रतीत होता है कि समंतभद्र अत्यन्त प्रतिभाशाली और स्वसमय, पर-समय के सारस्वत ज्ञाता थे। उनकी कारिकाओं के अवलोकन से उनका विभिन्न दर्शनों का पांडित्य अभिव्यक्त होता है। उन्होंने देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) में आप्तविषयक मूल्यांकन में सर्वज्ञाभाववादी-मीमांसक, भावैकान्तवादी-सांख्य, एकान्तपर्यायवादी-बौद्ध तथा सर्वथाउभयवादी-वैशेषिक का तर्कपूर्ण विवेचन कर उनका निराकरण किया है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव का सप्तभंगी न्याय द्वारा समर्थन कर वीरशासन की महत्ता प्रतिपादित की है। सर्वथा अद्वैतवाद, द्वैतवाद, कर्माद्वैत, फलाद्वैत, लोकाद्वैत प्रभृति का निरसन कर अनेकान्तात्मकता सिद्ध की है। इनमें अनेकान्तवाद का स्वस्थ स्वरूप विद्यमान है।

स्वामी समंतभद्र ने अपने ग्रन्थों में जैन दर्शन के निम्नलिखित सिद्धान्तों का निरूपण किया है—

१. प्रमाण का स्वपराभास लक्षण।
२. प्रमाण के क्रमभावी और अक्रमभावी भेदों की परिकल्पना।
३. प्रमाण के साक्षात् और परम्परा फलों का निरूपण।
४. प्रमाण का विषय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. नय का स्वरूप।
६. हेतु का स्वरूप।
७. स्याद्वाद का स्वरूप।
८. वाचक का स्वरूप।
९. अभाव का वस्तुधर्म-निरूपण एवं भावान्तर कथन।
१०. वाच्य का स्वरूप।
११. अनेकान्त का स्वरूप।
१२. तत्त्व का अनेकान्तरूप प्रतिपादन।
१३. अनेकान्त में भी अनेकान्त की योजना।
१४. जैन दर्शन में अवस्तु का स्वरूप।
१५. 'स्यात्' निपात का स्वरूप।
१६. अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि।
१७. युक्तियों से स्याद्वाद की व्यवस्था।
१८. आप्त का तार्किक स्वरूप।
१९. वस्तु-द्रव्य-प्रमेय का स्वरूप।

स्वामी समंतभद्र के समय के बारे में विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह किया है। अन्तिम निष्कर्ष के रूप में उनका समय ई० सन् की पहली या दूसरी शताब्दी माना जाता है।

समंतभद्र की तरह कवि और दार्शनिक के रूप में आचार्य सिद्धसेन भी बहुत प्रसिद्ध हैं। समंतभद्र द्वारा प्रवर्तित तर्कपूर्ण स्तुतियों की परम्परा में सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। इनकी भाषा साहित्यिक सुन्दरता और तर्क के प्रभावी प्रयोग से युक्त है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्परायें इन्हें अपना-अपना आचार्य मानती हैं। आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण में सिद्धसेन को कवि और वादिराजकेसरी कहा है।

सन्मतितर्क और न्यायावतार सिद्धसेन रचित दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। ये दोनों ग्रन्थ तर्कशास्त्र की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखते हैं। सन्मतितर्क में १६६ प्राकृत गाथाओं में नय और अनेकान्त का गम्भीर, विशद और मौलिक विवेचन किया गया है। आचार्य ने नयों का सांगोपांग विवेचन करके जैन न्याय की सुदृढ़ पद्धति को प्रारम्भ किया है। कथन करने की प्रक्रिया को नय कहा गया है। विभिन्न दर्शनों का अंतर्भाव विभिन्न नयों में किया है। न्यायावतार में ३२ संस्कृत श्लोकों में प्रमाणों का संक्षिप्त विवेचन है। जैन साहित्य में प्रमाण-विवेचन सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। प्रमाण के स्वपरावभासक लक्षण में 'बाधवर्जित' विशेषण देकर उसे विशेष समृद्ध किया गया है। ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता की जगह धर्मकीर्ति की तरह "मेयविनिश्चय" को रखा गया है। इससे यह प्रतिभासित होता है कि इन आचार्यों के युग में 'ज्ञान' दार्शनिक क्षेत्र में अपनी प्रमाणता बाह्यार्थ की प्राप्ति या मेयविनिश्चय से ही सिद्ध कर सकता था। आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार में प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—ये तीन भेद किए हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेद किये हैं। अनुमान और हेतु का लक्षण करके दृष्टान्त, दूषण आदि परार्थानुमान के समस्त परिकर का निरूपण किया है।

आचार्य सिद्धसेन के समय के सम्बन्ध में अनेक मान्यताएं प्रचलित हैं। कोई इन्हें प्रथम शताब्दी का और कोई चतुर्थ शताब्दी का विद्वान् समझती है। लेकिन अनेक अन्वेषकों ने इनका समय ई० की चौथी शताब्दी सिद्ध किया है।

सिद्धसेन और समंतभद्र समकालीन भले ही न हों किन्तु इनके द्वारा रचित ग्रन्थों को देखने से यह धारणा पुष्ट होती है कि ये दोनों अद्‌भुत प्रतिभा के धनी मौलिक विद्वान् थे। इन विद्वान् आचार्यों ने जैन तर्कशास्त्र पर सन्मतितर्क, न्यायावतार, युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा आदि ग्रन्थों में लिखकर जैन दर्शन के मूल स्याद्वाद सिद्धान्त को सांगोपांग परिपूर्ण बनाकर जैन सिद्धान्त को सबसे पहले सर्वदा के लिए अटल बनाया था। उपनिषदों के अद्वैतवाद का जो समन्वय आगम सूत्रों तथा दिगम्बरीय पंचास्तिकाय और प्रवचनसार नामक ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होता था, उसे इन प्रकाण्ड विद्वानों ने बहुत सुन्दर रूप में दार्शनिकों के समक्ष उपस्थित करके अपनी-अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया था।

सिद्धसेन और समंतभद्र ने घट, मौलि, सुवर्ण, दुग्ध, दधि, अगोरस आदि अनेक प्रकार के दृष्टांतों से और नयों के सापेक्ष वर्णन से द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों में जैनेतर सम्पूर्ण दृष्टियों को अनेकांत दृष्टि का अंशमात्र प्रतिपादित[1] कर मिथ्यादर्शनों के समूह को जैन दर्शन बताते

१. 'उद्धाविव सर्वसिधवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥,' सिद्धसेन : द्वा० द्वात्रिंशिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए[1] अपनी सर्वसमन्वयात्मक उदार भावना का परिचय दिया है। निस्संदेह जो स्थान वैदिक साहित्य में शंकराचार्य और कुमारिलभट्ट को प्राप्त है तथा बौद्धदर्शन में सर्वप्रथम न्यायपद्धति को स्थान देने के लिए जो महत्व आचार्य दिङ्नाग को है वही महत्व जैन साहित्य में उक्त दोनों विद्वान् आचार्यों का है।

सिद्धसेन और समंतभद्र के बाद जैन न्याय साहित्य के क्षितिज पर आचार्य मल्लवादी और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का प्रादुर्भाव हुआ। सिद्धसेन के समान ही मल्लवादी भी तर्कशास्त्र के प्रमुख ज्ञाता के रूप में प्रसिद्ध थे। प्रभावकचरित, प्रबन्धकोश और प्रबंधचिन्तामणि में इनका जीवनवृत्त वर्णित है। जिसके अनुसार इनका जन्म गुजरात की राजधानी वलभी में हुआ था। उस समय इनके मामा आचार्य जिनानन्द वाद-विवाद में एक बौद्ध आचार्य से पराजित हुए थे। फलस्वरूप राजा शिलादित्य ने जैन श्रमणों को निर्वासित कर दिया था। शत्रुंजय के प्रसिद्ध तीर्थ को भी बौद्धों के अधिकार में दे दिया था। बाल्यावस्था में ही जैन संघ की इस दुरवस्था को देखकर मल्लवादी क्षुब्ध हुए और दृढ़ निश्चय से अध्ययन में संलग्न हुए। शीघ्र ही उन्होंने तर्क-शास्त्र में अद्‌भुत निपुणता प्राप्त की और बौद्ध आचार्यों को राजा शिलादित्य की सभा में पराजित कर जैनसंघ का खोया हुआ गौरव पुनः प्राप्त किया। इन्होंने अनेकान्तवाद का प्रतिपादन करने के लिए नयचक्र आदि ग्रन्थों की रचना की। किसी समय नयचक्र बहुत प्रसिद्ध था। अब वह मूल रूप में नहीं मिलता किन्तु सिंहसूरी द्वारा उस पर लिखी गई टीका प्रकाशित हो गई है। सन्मतिसूत्र की टीका भी इन्होंने लिखी थी। किन्तु वह भी अप्राप्य है।

आगमों के व्याख्याकारों में भद्रबाहु के बाद जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का स्थान महत्वपूर्ण है। इन्होंने विशेषावश्यकभाष्य की रचना की। जो सन् ६०६ में पूर्ण हुई थी। आवश्यकसूत्र की इस व्याख्या में लगभग ३६०० गाथाएं हैं। इसमें ज्ञान, नय, निक्षेप, परमेष्ठी, गणधर आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इन्होंने प्रायः सिद्धसेन दिवाकर की शैली का ही अनुसरण किया है। जिनभद्रगणि सैद्धान्तिक परम्परा के एक बड़े विद्वान् माने जाते हैं।

यद्यपि वाचक उमास्वाति से लेकर जिनभद्रगणि के समय तक के युग में संस्कृत भाषा के अभ्यास और परमत-खण्डन की दृष्टि से स्वमतस्थापक ग्रन्थों की रचना की प्रवृत्ति अवश्य स्थिर हो चुकी थी। सिद्धसेन जैसे एकाध आचार्य ने जैन न्याय की व्यवस्था दर्शाने वाला एकाध ग्रन्थ भले ही रचा हो, किन्तु इस युग में जैन न्याय या प्रमाणशास्त्रों की न तो पूरी व्यवस्था हुई जान पड़ती है और न तद्विषयक साहित्य का निर्माण देखा जाता है। इस युग के जैन तार्किकों की प्रवृति की प्रधान दिशा प्रायः दार्शनिक क्षेत्र में एक ऐसे जैन मंतव्य की स्थापना की ओर रही जिसके बीज आगमों में बिखरे हुए थे। ये मंतव्य आगे जाकर भारतीय दर्शन परम्परा में एकमात्र जैन परम्परा के ही समझे जाने लगे तथा इन्हीं मंतव्यों के नाम पर आज तक समस्त जैन दर्शन का व्यवहार किया जाता है। वह मंतव्य है—अनेकान्तवाद, स्याद्‌वाद। सिद्धसेन, समंतभद्र, मल्लवादी, जिनभद्रगणि आदि इस युग के सभी जैनाचार्यों में अन्य दर्शनों के सामने जैनमत की अनेकान्त-दृष्टि तार्किक शैली से तथा परमत खण्डन के अभिप्राय से इस तरह रखी, जिससे इस युग को अनेकान्त-स्थापना-युग कहा जाना समुचित होगा।

उक्त आचार्यों के पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य के प्राकृत या संस्कृतग्रन्थ में न तो वैसी अनेकान्त की तार्किक स्थापना है और न अनेकान्त-मूलक सप्तभंगी और नयवाद का वैसा तार्किक विश्लेषण है। जैसाकि सन्मतितर्क, द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, न्यायावतार, स्वयंभूस्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, नयचक्र और विशेषावश्यकभाष्य में प्राप्त होता है। तर्कदर्शन निष्णात इन जैन आचार्यों ने नयवाद, सप्तभंगी और अनेकान्त-वाद की प्रबल और स्पष्ट स्थापना की और इतना अधिक पुरुषार्थ किया कि जिससे जैन एवं जैनेतर परम्पराओं में जैनदर्शन, अनेकान्तदर्शन के नाम से ही प्रतिष्ठित हो गया। बौद्ध और ब्राह्मण दार्शनिकों का लक्ष्य अनेकान्तवाद के खण्डन की ओर गया तथा वे किसी-न-किसी प्रकार से अपने ग्रन्थों में मात्र अनेकान्त या सप्तभंगी का खण्डन करके ही जैन दर्शन के मंतव्यों के खण्डन की इतिश्री समझने लगे।

इस प्रकार ईसा की सातवीं शताब्दी तक अनेकान्त-व्यवस्था की एक निश्चित रूपरेखा बन चुकी थी जिसको उत्तरवर्ती अनेक जैना-चार्यों ने विविध रूपों में पल्लवित किया। इसके पश्चात् आठवीं-नवीं शताब्दी में जैन दर्शन के अपूर्व तार्किक और प्रतिभासम्पन्न अकलंक एवं हरिभद्र जैसे समर्थ विद्वानों का आविर्भाव हुआ।

जैन परम्परा में यदि समंतभद्र जैन न्याय के पितामह है तो अकलंक पिता हैं। बौद्धदर्शन में जो स्थान धर्मकीर्ति को प्राप्त है। जैन दर्शन में वही स्थान अकलंक देव का है। इसके द्वारा रचित प्रायः सभी ग्रन्थ जैन दर्शन और जैन न्याय विषयक हैं। जैन तर्कशास्त्र के परिपक्व-रूप का दर्शन अकलंक देव के ग्रन्थों में होता है। इनकी रचनाओं को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ और द्वितीय वर्ग में टीका ग्रन्थ रखे जा सकते हैं। स्वतंत्र ग्रन्थ निम्नलिखित हैं —

(१) स्वोपज्ञ वृत्ति सहित लघीयस्त्रय, (२) न्यायविनिश्चय सवृत्ति, (३) सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति, (४) प्रमाणसंग्रह सवृत्ति।

---

१. 'भंद्द मिच्छादंसण समूह भइयस अभयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहादिमग्गस्स ॥', सिद्धसैन : सन्मतितर्क।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका ग्रन्थ—

(१) तत्त्वार्थराजवार्तिकभाष्य (२) अष्टशती-देवागमवृत्ति।

अकलंक की कृतियों में तत्त्वार्थसूत्र की टीका—तत्त्वार्थराजवार्तिक सबसे विस्तृत है। इसका आकार लगभग १६ हजार श्लोक प्रमाण है। इसके प्रथम और चतुर्थ अध्याय विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनमें मोक्ष और जीवस्वरूप सम्बन्धी विभिन्न विचारों का परीक्षण प्राप्त होता है। अष्टशती समंतभद्र कृत आप्त-मीमांसा की व्याख्या है। नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ सौ श्लोक प्रमाण है। लघीयस्त्रय में प्रमाण, नय और प्रवचन में तीन प्रकरण हैं। न्यायविनिश्चय में भी तीन प्रकरण हैं। इनमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों का विवेचन है। प्रमाणसंग्रह में ९ प्रकरण हैं। जिनमें प्रमाण संबंधी विभिन्न विषयों की चर्चा है। सिद्धिविनिश्चय में १२ प्रकरण हैं। इनमें प्रमाण, नय, जीव, सर्वज्ञ आदि विषयों का विवेचन है। इन चार ग्रन्थों में मूल श्लोकों के साथ गद्य में स्पष्टीकरणात्मक अंश भी जोड़ा है।

जैनाचार्यों में अकलंक के ग्रन्थों का बड़ा आदर हुआ। अष्टशती पर विद्यानन्द ने, लघीयस्त्रय पर अभयचंद्र और प्रभाचंद्र ने, न्यायविनिश्चय पर वादिराज ने तथा प्रमाणसंग्रह और सिद्धिविनिश्चय पर अनन्तवीर्य ने विस्तृत व्याख्याएं लिखी हैं। माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख अकलंक के विचारों का सूत्रबद्ध रूप प्रस्तुत करता है।

हरिभद्रसूरि का जन्म चित्तौड़ के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कुलक्रमागत वेदादि का अध्ययन पूर्ण होने पर ज्ञान के गर्व से इन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि जिसका वचन मैं न समझ सकूं उसका शिष्यत्व स्वीकार करूंगा। एक बार याकिनी महत्तरा नामक जैन साध्वी आगमों का पाठ कर रही थी। उनकी प्राकृत गाथा का अर्थ हरिभद्र नहीं समझ सके और प्रतिज्ञानुसार उनकी सेवा में शिष्य रूप में उपस्थित हुए। साध्वी ने अपने गुरु जिनभद्रसूरि से उनकी भेंट कराई। उनसे मुनिदीक्षा ग्रहण कर आगमों का विधिवत् अध्ययन कर लेने के उपरान्त हरिभद्र को आचार्य पद दिया गया।

विस्तार, विविधता और गुणवत्ता—इन तीनों दृष्टियों से हरिभद्र की रचनायें जैन साहित्य में महत्वपूर्ण हैं। परम्परानुसार इनके ग्रन्थों की कुल संख्या १४४४ कही गई है। आपने आवश्यक, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार, ओघनिर्युक्ति, दशवैकालिक, जीवाभिगम, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगम ग्रन्थों पर संस्कृत टीकाएं लिखी हैं जिससे संस्कृतभाषी विद्वानों के लिए इन आगमों का अध्ययन सरल हो गया है।

अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तवादप्रवेश, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि ग्रन्थों में विभिन्न भारतीय-दर्शनों के तत्वों का जैनदृष्टि से परीक्षण कर हरिभद्र ने जैनतत्वों को तर्कशास्त्र के अनुकूल सिद्ध किया। षड्दर्शनसमुच्चय नामक ग्रन्थ में उन्होंने जीव, जगत् और धर्म सम्बन्धी भारतीय दर्शनों की मान्यताओं का प्रामाणिक रूप में संकलन किया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि हरिभद्रसूरि ने भारतीय साहित्य और विशेष रूप से जैन साहित्य के प्रत्येक अंग को पुष्ट बनाने में अपना योगदान दिया है।

अकलंक और हरिभद्रसूरि का समय दर्शनशास्त्र के इतिहास में विप्लव का युग था। शास्त्रार्थों की धूम मची हुई थी। बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति के उदय से बौद्धदर्शन उन्नति की पराकाष्ठा पर था। धर्मकीर्ति ने अपने प्रबल तर्कबल से वैदिक दर्शनों पर प्रचण्ड प्रहार किए। जैन दर्शन भी इनके आक्षेपों से नहीं बचा था। प्रतिपक्षी विद्वानों द्वारा अनेकान्तवाद पर अनेक प्रहार होने लगे थे। कई लोग अनेकान्त को संशय कहते थे। कोई केवल छत का रूपान्तर कहते थे और कोई इसमें विरोध, अनवस्था आदि क्षेत्रों का प्रतिपादन करके इसका खण्डन करते थे। ऐसे तर्कप्रधान समय में सम्पूर्ण दर्शनों का अनेकान्तवाद में समन्वय करके उस पर कहना या लिखना साधारण कार्य नहीं था। परन्तु अकलंक और हरिभद्रसूरि इस असाधारण कार्य को सम्पन्न करने में अपनी अद्भुत-क्षमता और प्रकाण्ड-पाण्डित्य से सफल हुए। इन्होंने स्याद्वाद के एक-एक विषय को लेकर नाना प्रकार से ऊहापोहात्मक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया।[1] इन्होंने गम्भीर तर्कपद्धति का आलम्बन लेकर स्याद्वाद पर प्रतिवादियों द्वारा आरोपित दोषों का निराकरण करते हुए नाना-दृष्टि बिन्दुओं से अनेकान्तवाद का जो विवेचन और समर्थन किया है वह निश्चय ही जैन दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करने की क्षमता रखता है।

यद्यपि अनेक मुद्दों में जैन दर्शन और बौद्धदर्शन समानतन्त्रीय थे। किन्तु क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्धवादों का दृष्टिकोण एकान्तिक होने से दोनों में स्पष्ट विरोध था। इसीलिए इनका प्रबल खंडन अकलंक और हरिभद्र के ग्रन्थों में पाया जाता है। इनके ग्रन्थों का बहुभाग बौद्ध दर्शन के खण्डन से भरा हुआ है। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय आदि का खण्डन अकलंक के सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह और अष्टशती आदि ग्रन्थों में किया गया है। हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका और अनेकान्तवादप्रवेश आदि में बौद्ध दर्शन की प्रखर आलोचना है। यहां एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहां वैदिक दर्शन ग्रन्थों में अन्य मतों का मात्र खण्डन ही खण्डन है। वहां जैन दर्शन के ग्रन्थों में इतर मतों का नय और स्याद्वाद पद्धति से विशिष्ट समन्वय किया गया है। शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय और धर्मसंग्रहणी आदि ग्रन्थ इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।

जब धर्मकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रमति, प्रभाकरगुप्त, कर्णकगोमी, शांतरक्षित और अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिकटीका, प्रमाणवार्तिका-

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र की व्याख्या।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लंकार, प्रमाणवार्तिकस्ववृतिटीका, तत्त्वसंग्रह, वादन्यायटीका और हेतुबिन्दुटीका आदि ग्रन्थ रच चुक थे। तब इसी युग में अनन्तवीर्य ने बौद्ध दर्शन के खण्डन में सिद्धिविनिश्चयटीका की रचना की।

इसके बाद ईसा की नवीं शताब्दी में दर्शनशास्त्र के धुरीण तार्किक विद्वान् विद्यानन्द और माणिक्यनन्दि का युग आता है। आचार्य विद्यानन्द और माणिक्यनन्दि दोनों गुरुबन्धु थे। इन दोनों के गुरु का नाम वर्धमान था। जो तपस्या और उत्तमज्ञान के कारण प्रसिद्ध थे तथा गंगवश के राजाओं के गुरु थे।

आचार्य विद्यानन्द जैन तर्कशास्त्र के प्रौढ़ लेखकों में प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने प्रमाण और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना कर श्रुत परम्परा को गतिशील बनाया। इनके नौ ग्रन्थ ज्ञात हैं। तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या श्लोकवार्तिक का विस्तार १८,००० श्लोकों जितना है। इनके एक अन्य ग्रन्थ अष्टसहस्री, जो अकलंक कृत अष्टशती की टीका है, में अनेकान्तवाद के विभिन्न रूपों का विस्तृत विवरण और समर्थन प्रस्तुत किया गया है। नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ हजार श्लोकों जितना है। समंतभद्र की दूसरी कृति युक्त्यनुशासन पर भी युक्त्यनुशासनालंकार नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखा है।

उक्त तीन व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, विद्यानन्दमहोदय स्वतंत्र ग्रन्थ हैं। आप्तपरीक्षा में जगत्कर्ता ईश्वर की मान्यता का खण्डन विस्तार से प्राप्त होता है। प्रमाणपरीक्षा में प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के विभिन्न प्रकारों का विवेचन है। पत्रपरीक्षा में वाद-विवादों में प्रयुक्त होने वाले पत्रों (कूट श्लोकों) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। सत्यशासनपरीक्षा में जैनेतर मतों के निरसन के साथ अनेकान्तवाद का समर्थन है। श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र में भी विभिन्न मतों का संक्षिप्त खंडन किया गया है। विद्यानन्दमहोदय में तर्कशास्त्र सम्बन्धी विविध विषयों पर विचार किया गया है। किन्तु अभी वह अप्राप्त है।

विद्यानन्द ने नैयायिकों तथा बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करके अनेक प्रकार से तार्किक शैली द्वारा स्याद्वाद का प्रतिपादन और समर्थन किया। इन्होंने कुमारिल आदि वैदिक विद्वानों के जैनदर्शन पर होने वाले आक्षेपों का बड़ी योग्यता से परिहार किया। जो निश्चय ही उनके अपूर्व पाण्डित्य को प्रकट करता है।

माणिक्यनन्दि ने सर्वप्रथम जैन न्याय को परीक्षामुख के सूत्रों में गूंथकर अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया। यह ग्रन्थ प्रमाणों के मूलभूत ज्ञान के लिए बहुत उपयोगी है। अकलंक के गंभीर और दुर्गम-ग्रन्थों के विचार सरल सूत्र शैली में निबद्ध कर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इस पर अनेक छोटी-बड़ी व्याख्याएं भी प्राप्त होती हैं।

इन सब जैनाचार्यों की ग्रन्थ रचना से उत्तरवर्ती जैनसंघ में न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के संग्रह, परिशीलन और नये-नये ग्रन्थों के निर्माण का ऐसा युग आया कि समाज उसी को प्रतिष्ठित विद्वान् समझने लगा; जिसने संस्कृत भाषा में खासकर तर्क या प्रमाण पर मूल या टीका रूप से कुछ लिखा हो। परिमाणतः ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में जैन न्यायशास्त्र का अच्छा विकास हुआ। यह जैन न्यायशास्त्र का मध्याह्न काल था। जिसमें सिद्धर्षि, प्रभाचंद्र और अभयदेव जैसे महान् तार्किक विद्वान हुए।

आचार्य सिद्धर्षि दुर्गस्वामी के शिष्य थे। इन्होंने उपमितिभवप्रपंचकथा नामक विस्तृत कथा-ग्रन्थ की रचना की और सिद्धसेन के न्यायावतार पर टीका ग्रन्थ लिखकर अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है।

धारानगर के महाराज भोजदेव के समय में विद्यमान विज्ञानमण्डल में प्रभाचंद्र का विशिष्ट स्थान था। उनकी बहुमुखी प्रतिभा के प्रमाण चार महत्वपूर्ण ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड जो माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख की व्याख्या है। इसका विस्तार १२,००० श्लोकों जितना है। उस व्याख्या में प्रमाणों के विषयों के रूप में विश्व स्वरूप के बारे में विविध वाद विषयों की सूक्ष्म चर्चा की गई है। इसी प्रकार न्यायकुमुदचंद्र अकलंक के लघीयस्त्रय की व्याख्या है। इसमें भी मूल ग्रन्य के प्रमाण विषयों के साथ प्रमेय विषयों का विस्तृत विवेचन है। ग्रन्थ का विस्तार १६,००० श्लोक प्रमाण है। शब्दाम्भोजभास्कर जैनेन्द्र व्याकरण की विस्तृत व्याख्या है तथा गद्यकथाकोष कथा-ग्रन्थ है।

अभयदेव चन्द्रकुल के प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे। इनके शिष्य धनेश्वर राजामुंज की सभा में सम्मानित हुए थे। इनकी परम्परा को राजागच्छ नाम मिला था। सिद्धसेन के सन्मतितर्क पर अभयदेव ने वादमहार्णव नामक टीका लिखी। जिसका विस्तार २५,००० श्लोक प्रमाण है। अब तक के जैन संस्कृत ग्रन्थों में वादमहार्णव सबसे बड़ा ग्रन्थ था। इसमें आत्मा, ईश्वर, सर्वज्ञ, मुक्ति, वेदप्रामाण्य आदि विविध विषयों का तर्कदृष्टि से विस्तृत परीक्षण किया गया है।

सिद्धर्षि आदि उक्त तीनों विद्वान्-आचार्यों ने सौत्रान्तिक, वैभाषिक, विज्ञानवाद, शून्यवाद, ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत आदि बौद्ध और वैदिक-वादों का समन्वय करके, स्याद्वाद का नैयायिक पद्धति से प्रतिपादन किया है। जो उनके ग्रन्थों में यथास्थान अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है।

इनके पश्चात् हम बारहवीं शताब्दी की ओर आते हैं। इसे जैन-दर्शन का मध्याह्नोत्तर काल समझना चाहिए। वादिदेवसूरि और आचार्य हेमचन्द्र का नाम इस युग के प्रमुख आचार्यों में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवसूरि प्रसिद्धवादी थे । अत: वादीदेवसूरि इसी रूप में उनका नाम विख्यात हुआ । इनका जन्म सन् १०८७ में हुआ था । ये नौ वर्ष की अवस्था में बृहद्गच्छ के यशोभद्र के शिष्य मुनिचन्द्र के शिष्य बने थे । आपका कार्यक्षेत्र गुजरात रहा । इन्होंने स्याद्वाद का स्पष्ट विवेचन करने के लिए प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक जैन-न्याय का सूत्र-ग्रन्थ लिखा और उस पर स्याद्वादरत्नाकर नामक बृहद्कायटीका की रचना की, जिसमें अपने समय तक के सभी जैन तार्किकों के विचारों को दुहकर संकलित कर दिया, साथ ही अपनी जानकारी के अनुसार ब्राह्मण और बौद्ध परम्परा की शाखाओं के मन्तव्यों की विस्तृत चर्चा भी की । जिससे यह ग्रन्थ रत्नाकर जैसा समग्र मन्तव्य रत्नों का संग्रह बन गया जो तत्वज्ञान के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े महत्व का है । प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए इसको संक्षेप में रत्नाकरावतारिका नाम से इनके शिष्य रत्नप्रभ ने लिखा है ।

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य तो अपने समय के असाधारण पुरुष हैं । उनके कर्तृत्व से जैन संघ कृतज्ञता अनुभव करने के साथ-साथ अपने आपको गौरवशाली अनुभव करता है । जैन न्याय, व्याकरण, काव्य आदि साहित्य के सभी अंगों को आपने पल्लवित करके अनेक नयी देनें दी हैं । इन्होंने अन्ययोगव्यवच्छेदिका, अयोगव्यवच्छेदिका, प्रमाणमीमांसा आदि ग्रन्थों की रचना करके जैन दर्शन के सिद्धान्तों को विकासोन्मुखी बनाया है । अन्ययोगव्यवच्छेदिका के ३२ श्लोकों में चार्वाक, न्यायवैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, योगाचार, माध्यमिक आदि दर्शनों का हृदयग्राही सुन्दरवाणी में जो समन्वय किया है वह अपने ढंग का अनोखा और अभूतपूर्व है ।

इसके अतिरिक्त शान्तिसूरि का जैनतर्कवार्तिक, जिनदेवसूरि का प्रमाणलक्षण, अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला, चन्द्रप्रभसूरि का प्रमेयरत्नकोष, चन्द्रसूरि का अनेकान्तजयपताका का टिप्पण आदि ग्रन्थ भी इसी युग की कृतियां हैं ।

इसके पश्चात् तेरहवीं, चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी में जैन-दर्शन के जो समर्थ व्याख्याकार और ग्रन्थलेखक हुए हैं । उन्होंने स्याद्वाद के विभिन्न अंगों की विशद रूप से विवेचना की है । इनमें आचार्य मलयगिरि एक समर्थ टीकाकार हुए हैं । इसी युग में मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी, चन्द्रसेन की उत्पादादिसिद्धि, रामचन्द्र-गुणचन्द्र का द्रव्यालंकार, सोमतिलक की षड्दर्शनसमुच्चयटीका, गुणरत्न की षड्दर्शनसमुच्चयवृहद्वृति, राजशेखर की स्याद्वादकलिका आदि, भावसेन त्रैविधदेव का विश्वतत्वप्रकाश, धर्मभूषण की न्यायदीपिका आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं ।

अभी तक के आचार्यों की लेखन-शैली प्राचीन न्याय प्रणाली का अनुसरण करती रही थी । किन्तु विक्रम की तेरहवीं सदी में गंगेश उपाध्याय ने नव्य न्याय की नींव डाली और प्रमाण-प्रमेयों को अवच्छेदकावच्छिन्न की भाषा में जकड़ दिया । जैन विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में इसका अनुसरण किया है । जिनमें सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दी के प्रमुख विद्वान् उपाध्याय यशोविजय जी और पण्डित विमलदासजी के नाम उल्लेखनीय हैं । उपाध्यायजी जैन परम्परा में बहुमुखी प्रतिभा के धारक असाधारण विद्वान् थे । इन्होंने योग, साहित्य, प्राचीन न्याय आदि का गम्भीर पाण्डित्य प्राप्त करने के साथ नव्य-न्याय की परिकृष्त शैली में खण्डनखण्डखाद्य आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया और उस युग तक के विचारों का समन्वय तथा उन्हें नव्य शैली से परिष्कृत करने का आद्य और महान् प्रयत्न किया । स्याद्वाद के द्वारा अभूतपूर्व ढंग से संपूर्ण दर्शनों का समन्वय करके स्याद्वाद को "सार्वतांत्रिक"[1] सिद्ध करना उपाध्यायजी की प्रतिभा का सूचक है । उन्होंने शास्त्रवार्तासमुच्चय की स्याद्वादकल्पलताटीका, नयोपदेश, नयरहस्य, नयप्रदीप, न्यायखण्डनखण्डखाद्य, न्यायालोक, अष्टसहस्रीटीका आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की ।

पण्डित विमलदास जी ने नव्य न्याय का अनुकरण करने वाली भाषा में सप्तभंगीतरंगिणी नामक स्वतंत्र ग्रन्थ की संक्षिप्त और सरल भाषा में रचना करके एक महान् अभाव की पूर्ति की है ।

इस प्रकार अनेक विद्वद्शिरोमणि आचार्यों ने ग्रन्थ लिखकर जैन दर्शन के विकास में जो भगीरथ प्रयत्न किये हैं उनकी यहां झलक मात्र प्रस्तुत की गई है ।

यह स्याद्वाद साहित्य के विकास का इतिहास भारतीय दर्शन साहित्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है । यह विकास जैनाचार्यों के प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ-साथ उनकी अलौकिक क्षमता तथा सर्वकल्याण की मंगलमयी दृष्टि को प्रकट करता है। भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में जो-जो नवीन धाराएं विशेष विकास को प्राप्त होती गईं; इन सबको जैनाचार्यों ने अपने दर्शन में स्थान देकर न्यायात्मक दृष्टि से सत्य सिद्ध करने के साथ उनका स्तर निर्धारिण करने का प्रयत्न किया है । जो उनके सर्वतोभद्र औदार्यभाव को व्यक्त करता है । "सत्य एक है" । उसके रूप अनेक है । भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न देशकाल के अनुसार सत्य के एक अंश को ही ग्रहण कर सकते हैं । अतएव परस्पर विरोधी दिखाई देती हुई भी वे सभी दृष्टियां सत्य हैं जैन विद्वानों का यह मन्तव्य अवश्य ही विशाल, उदार और गम्भीर है ।

१. 'ब्रुवाणा भिन्नभिन्नार्थान्नयभेदव्यपेक्षया ।
प्रतिक्षिपेपुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतान्त्रिकम् ॥', अध्यात्मसार, ५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य साहित्य में स्याद्वाद

वैदिक, बौद्ध आदि भारतीय दार्शनिकों की तरह पाश्चात्य दर्शनों के संस्थापकों ने भी स्याद्वाद सिद्धान्तों को अपने अनुभवों से सिद्ध करके अपने साहित्य में एक सुव्यवस्थित तथा सुनिश्चित रूप दिया है। जिसका यहां संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं।

ग्रीक दर्शन में एलिअटिक्स और हेरेक्लिट्स नामक विचारकों के बाद ईसा से ४६५ वर्ष पूर्व एम्पीडोक्लीज, एटोमिस्ट्स और अनैक्सागोरस नामक दार्शनिकों का युग था। इन तत्ववेत्ताओं ने एलिअटिक्स के एकान्त नित्यवाद और हेरेक्लिट्स के एकान्त क्षणिकवाद का समन्वय करके दोनों सिद्धान्तों को नित्यानित्य के रूप में ही स्वीकार किया। इनके मतानुसार सर्वथा-क्षणिकवाद असम्भव है और इसी तरह सर्वथा-नित्यवाद भी। किन्तु साथ ही साथ वस्तु परिवर्तनशील भी अवश्य है। इन विद्वानों ने अनुभव द्वारा नित्य दशा में रहते हुए भी पदार्थों का परिवर्तन देखकर "आपेक्षिक परिवर्तन" के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।[1]

इसके पश्चात् हम ग्रीस के प्रतिभाशाली कवि और दार्शनिक विदान् प्लेटो के विचारों की ओर आते हैं। सोफिस्ट नामक संवाद में एलिमा का मुसाफिर कहता है—जब हम "असत्य" के विषय में कुछ कहते हैं तो इसका मतलब 'सत्' के विरुद्ध (सर्वथा असत्) न होकर केवल सत् से भिन्न होता है।[2] इसी प्रकार "एलिया" का मुसाफिर संवाद के एक दूसरे स्थान पर भी प्लेटो अपने पात्र के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

> "उदाहरण के लिए हम एक ही मनुष्य को उसके रंग, रूप, परिणाम, गुण, दोष आदि की अपेक्षा से देखते हैं अतएव हम "यह मनुष्य ही है।" यह न कहकर "यह भला है।" इत्यादि नाना दृष्टि बिन्दुओं से व्यवहार में प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु जिसको हम प्रारंभ में एक समझते हैं अनेक तरह से अनेक नामों द्वारा वर्णन की जा सकती है।"

पश्चिम के आधुनिक दर्शन में भी इस प्रकार के विचारों की कमी नहीं है। उदाहरण के रूप में जर्मनी के प्रकाण्ड दार्शनिक हीगेल का कथन है कि 'विरुद्धधर्मात्मकता ही सब वस्तुओं का मूल है। किसी वस्तु का ठीक-ठीक वर्णन करने के लिए हमें उस वस्तु सम्बन्धी सम्पूर्ण सत्य कहने के साथ उस वस्तु के विरुद्ध धर्मों का किस प्रकार समन्वय हो सकता है यह भी प्रतिपादन करना चाहिए।'[3]

इसके पश्चात् हम नये विज्ञानवाद के प्रतिपादक ब्रेडले के विचारों पर दृष्टिपात करें। इस दार्शनिक का कहना है कि कोई भी वस्तु दूसरी वस्तुओं से तुलनात्मक दृष्टि से देखी जाने पर किसी अपेक्षा से आवश्यक और किसी अपेक्षा से अनावश्यक दोनों ही सिद्ध होती है। अतएव संसार में कोई भी पदार्थ नगण्य अथवा आकिंचित्कर नहीं है; प्रत्येक तुच्छ-से-तुच्छ विचार में और छोटी-से-छोटी सत्ता में सत्यता विद्यमान है।[4]

आधुनिक दार्शनिक विद्वान् प्रो० जे० अचिम भी अपनी 'सत्य का स्वरूप' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हैं। इनका कहना है कि कोई भी विचार स्वतः ही दूसरे विचार से सर्वथा अनपेक्षित होकर केवल अपनी अपेक्षा से सत्य नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए तीन से तीन गुणा करने पर नौ होता है (३×३=९); यह सिद्धान्त एक बालक के लिए सर्वथा निष्प्रयोजन है। परन्तु इसे पढ़कर गणितज्ञ के सामने गणितशास्त्र के विज्ञान का सारा नक्शा आ जाता है। इसी प्रकार दूसरे तत्त्ववेता प्रोफेसर पेटी के अनुसार यह विश्व किसी अपेक्षा से नित्य है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें परिवर्तन नहीं होता। यही सिद्धांत संसार की छोटी-से-छोटी वस्तुओं के लिए भी लागू है। यह ब्रह्मांड नाना दृष्टि-बिन्दुओं से देखा जा सकता है। किसी एक वस्तु के पिंड को जानकर हम उसके विषय में संपूर्ण सत्य जानने का दावा नहीं कर सकते हैं। इसी तरह के विचार नैयायिक जोसफ, एडमण्ड, होम्स प्रभृति विद्वानों ने भी प्रकट किए हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध मानसशास्त्र के विद्वान् प्रो० विलियम जेम्स ने भी अपेक्षावाद से समानता रखने वाले विचारों को व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि "हमारी अनेक दुनिया हैं। साधारण मनुष्य इन सब दुनियाओं को परस्पर असंबद्ध तथा अनपेक्षित दशा में देखता है। पूर्ण तत्त्ववेत्ता वही है जो सम्पूर्ण दुनियाओं को एक-दूसरे से संबद्ध और अपेक्षित रूप में जानता है।"

इस प्रकार जैन दार्शनिकों की तरह विश्व के समस्त पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शनों के संस्थापकों ने भी स्याद्वाद को अपने चिन्तन-मनन और आचार-व्यवहार के द्वारा सिद्ध करके किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है। और अपने अनुभवों को स्थायी रूप देने के लिए साहित्य का अंग बना दिया। यह स्थिति हमें कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य के निम्नलिखित भावों का स्मरण करने के लिए प्रेरित करती है—

"आदीपमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्रानति भेदि वस्तु।"

दीपक से लेकर आकाश पर्यन्त छोटे-बड़े सभी पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकते।

---

१. Thilly; History of Philosophy, पृ० २२
२. Dialogues of Plato
३. Thilly; History of Philosophy, पृ० ४६७
४. Appearance and Reality, पृ० ४८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org